



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2022; 8(3): 141-146

© 2022 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 13-03-2022

Accepted: 16-04-2022

पिटू कुमार

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

वेदार्थ मीमांसा में वाजसनेयि-प्रातिशाख्य की भूमिका

पिटू कुमार

सारांश

वैदिक मन्त्रों के अर्थ ज्ञान में स्वर की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। स्वर के ज्ञानाभाव में वेदार्थ मीमांसा सम्भव नहीं है। स्वर के द्वारा ही मन्त्रों के अर्थ का निर्णय हो पाता है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में भी वैदिक स्वर से सम्बन्धित नियम प्रतिपादित है। ये नियम मन्त्रों के अर्थ ज्ञान में अत्यन्त सहायक है। प्रातिशाख्य में प्रतिपादित इन विधानों का ज्ञान नहीं होने पर अर्थ तथा स्वर के विषय में संशय बना रहता है। अतः प्रातिशाख्य में प्रतिपादित स्वर सम्बन्धी विधान स्वर तथा अर्थ के निश्चय में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। आचार्य कात्यायन कृत वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में वर्णित स्वर-सम्बन्धित विधान वेदार्थ मीमांसा में सहायक प्रतीत होते हैं।

कूट शब्द : वैदिक मन्त्रों, ज्ञानाभाव, प्रातिशाख्य

प्रस्तावना:

वैदिक भाषा में स्वरों का अत्यन्त महत्त्व है। प्रत्येक वेद की अपने उच्चारण, स्वराङ्कन एवं प्रदर्शन की परम्परा है। स्वरों की व्यवस्था एवं तज्जनति उच्चारण-विशेषता को अक्षुण्ण रखने के लिए ही विभिन्न आचार्यों ने प्रातिशाख्य ग्रन्थ की रचना की है। वेद के वास्तविक अर्थ को जानने के जितने भी साधन है, उनमें स्वर-शास्त्र सबसे प्रधान है। स्वरज्ञान के बिना न केवल मन्त्र का वास्तविक अर्थ ही अस्पष्ट रहता है अपितु स्वरशास्त्र की उपेक्षा से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। अर्थ ज्ञान ही वेदाध्ययन का अभीष्ट फल है क्योंकि अर्थज्ञान के अभाव में किसी भी यज्ञीय कर्म की सिद्धि सम्भव नहीं है। बृहदेवता के अनुसार योग, दक्षता, आत्म-नियन्त्रण, बुद्धि, गम्भीर विद्वत्ता, तपस्या और विनियोग से व्यक्ति मन्त्रों के अर्थ को जान सकता है।¹ तात्पर्य यह है कि मन्त्र के अर्थ-ज्ञान के लिये विशेष श्रम अपेक्षित है। जो वेद को पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता है उसकी निन्दा भी की गयी है। निरुक्तकार ने ऐसे व्यक्ति को भार ढोने वाला कहा है।² जिसने वेद को प्राप्त तो कर लिया है किन्तु समझा नहीं है, वह ज्ञान वैसे ही प्रकाश रहित होता है, जिस प्रकार अग्नि के अभाव में सूखा ईंधन नहीं जलता है।³ वस्तुतः वेदार्थ-ज्ञान के अभाव में वेद का पाठ करने वाले की निन्दा होती है। ऋग्वेद में भी वेदार्थ के ज्ञान की प्रशंसा की गयी है। यथा- कुछ को वाणी की मित्रता के विषय में सुनिश्चित ज्ञान वाला कहा जाता है। दूसरा जो अर्थज्ञ नहीं है वह झूठी गाय की माया के साथ चलते हैं। इनकी वाणी फलरहित तथा फूलरहित होती है।⁴ समुचित प्रकार से किये गये सस्वर वेद-पाठ की उपयोगिता बतलाते हुए याज्ञवल्क्य शिक्षा में निर्देश किया गया है कि उदात्तादि स्वर एवं वर्णों का शुद्ध प्रयोग तथा हाथ से उनका प्रदर्शनात्मक अध्ययन करने वाला व्यक्ति अपने अधीयमान ऋक्, यजु एवं साम से पवित्र होकर ब्रह्म लोक की प्राप्ति करता है।⁵ शबरस्वामी ने स्वरों के महत्त्व को बतलाते हुए मीमांसासूत्र के भाष्य भी लिखा है- उदात्तादि त्रैस्वर्य की जो व्यवस्था है वह मन्त्रों के अर्थ ज्ञान के लिए ही है।⁶ वैदिक मन्त्रों के उच्चारण में स्वर के अशुद्ध उच्चारण से अर्थ का अनर्थ हो जाता है इस तथ्य की पुष्टि में पाणिनीय शिक्षा का यह श्लोक प्रमाण है-

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाहा।
स वाग्वज्रो यजमान हिनस्ति यथेन्द्र शत्रुः स्वरतोऽपराधाना॥

Corresponding Author:

पिटू कुमार

शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग, दिल्ली
विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

एक आख्यायिका के अनुसार त्वष्टा नामक एक असुर ने अपने पुत्र वृत्र की वृद्धि के लिए जो यज्ञ किया था उसमें ऋत्विजों द्वारा 'इन्द्रशत्रुवर्धस्व' मन्त्र में शब्द को अन्तोदात्त उच्चरित करना चाहिए था किन्तु सम्भवतः इन्द्र के प्रभाव से प्रभावित किये गये अथवा स्वानुकूल बनाये गये ऋत्विजों ने मन्त्र में प्रयुक्त 'इन्द्रशत्रु' शब्द को आद्युदात्त अर्थात् 'इन्द्रशत्रु' उच्चारित किया अतः 'इन्द्रशत्रु' शब्द तत्पुरुष समास से बहुव्रीहि समास में परिणत हो गया और उसका अर्थ हुआ इन्द्रः शत्रुर्यस्य। इस प्रकार त्वष्टा द्वारा किया गया यज्ञ उसके इष्ट फल से विपरीत फलदायी सिद्ध हुआ और उसका विनाश हो गया।

इसी सन्दर्भ में अन्य उदाहरण- सामान्यतया भ्रातृव्य शब्द के दो अर्थ प्रचलित हैं। शत्रु तथा भतीजा। इन दोनों अर्थों को दृष्टि में रखते हुए भ्रातृव्यस्य वधाय⁷ इस मन्त्रांश का कौन सा अर्थ हो? यहाँ एक सन्देह उत्पन्न हो जाता है। भ्रातृव्य शब्द का आद्युदात्त स्वर⁸ होने पर शत्रु अर्थ तथा अन्तस्वरित स्वर होने पर भतीजा अर्थ होता है। प्रस्तुत उदाहरण में भ्रातृव्य शब्द का आद्युदात्त स्वर है। अतः इसका अर्थ शत्रु है। इस प्रकार स्वरों के महत्त्व को ध्यान में रखकर ही आचार्यों ने प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा ग्रन्थों में इसे विशेष स्थान दिया है। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के भाष्यकार उव्वट का मन्तव्य है कि वैदिक मन्त्र किञ्चिन्मात्र भी उदात्तादि स्वर अथवा वर्ण से विपरीत उच्चारित होता है तो यज्ञ कर्म की अपूर्णता हो जाती है। इतना ही नहीं त्रुटि युक्त यज्ञ के कारण प्रत्यवाय भी हो जाता है।⁹ ऋग्वेद के भाष्यकार वेंकटमाधव ने वेदार्थ ज्ञान में स्वरों के महत्त्व को बतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार अन्धकार में दीपिका (दीपक, मशाल) की सहायता से चलने वाला व्यक्ति कहीं भी गिरता नहीं है, उसी प्रकार स्वरों की सहायता से किये गये अर्थ सन्देह रहित स्पष्ट होते हैं।¹⁰ इस सन्दर्भ में उन आचार्यों का भी स्मरण हो रहा है जो उदात्त स्वर के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने वाले अपने शिष्य के मुँह पर चाँटा लगाकर उसके उच्चारण को शुद्ध करते थे।¹¹ अतः उदात्तादि स्वर वैदिक मन्त्रों के अर्थ ज्ञान में अत्यन्त उपकारक होते हैं। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वेद के स्वर से सम्बद्ध नियम प्रतिपादित है। ये नियम मन्त्रार्थज्ञान में अत्यन्त सहायक होते हैं।

वाजसनेय प्रातिशाख्य में वर्णित उदात्तादि स्वर से सम्बद्ध नियम वेदार्थ मीमांसा में अत्यन्त सहायक होते हैं, जिसका वर्णन इस प्रकार है-

क) विकारी अन्तः शब्द आद्युदात्त होता है- व्ययवाँश्चान्तः।¹²

उव्वट और अनन्तभट अनुसार "अन्तः" शब्द दो प्रकार का होता है - व्ययवान् और अव्ययवान्। कहा भी गया है- सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्।¹³ अव्यय अन्तः शब्द के विभक्ति आदि विकार नहीं होते हैं। किन्तु व्यय अन्तः शब्द के विभक्ति आदि विकार होते हैं।

आचार्य कात्यायन के अनुसार विकारवान् अन्तः शब्द आद्युदात्त होता है।

यथा- समुद्रश्च मध्यं चान्तंश्च।¹⁴ इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्याः।¹⁵

इन उपर्युक्त उदाहरणों पर अन्तः पद विकारवान् है।¹⁶ अतः आद्युदात्त है, परन्तु जहाँ 'अन्तः' पद अव्यय होता है, वहाँ आद्युदात्त नहीं होता है।

यथा - अन्तर्यच्छ मघवन्।¹⁷ यहाँ पर अन्तः शब्द अव्यय है, अर्थात् सभी लिङ्गों विभक्तियों और वचनों में एक समान रहता है। इसलिये यह आद्युदात्त नहीं है।

ख) मृग का वाचक होने पर कृष्ण पद आद्युदात्त होता है- कृष्णो मृगसंयोगे।¹⁸

यथा- कृष्णोऽस्याखरेष्ठः।¹⁹ कृष्णो रात्र्या ऋक्षो जतूः।²⁰

इन उपर्युक्त उदाहरणों में कृष्ण पद मृग अर्थ का वाचक है अतः आद्युदात्त है। किन्तु कृष्ण पद मृग अर्थ भिन्न होने पर आद्युदात्त नहीं होता है। यथा-श्वा' कृष्णः कर्णो गर्दभः।²¹ यहाँ कृष्ण वर्ण का वाचक है। अतः आद्युदात्त नहीं है।

ग) प्रधान अर्थ में पर पद आद्युदात्त होता है- पर प्रधाने।²²

इस प्रधान पद का अर्थ उव्वट के अनुसार अपरिमित होता है।²³

यथा - यस्मान्न जातः परो अन्त्यो अस्ति।²⁴ इयं वेदिः परः।²⁵

उपर्युक्त उदाहरणों में 'परः' शब्द प्रधान/अपरिमित अर्थ युक्त है। अतः आद्युदात्त है।

किन्तु, प्रधान से भिन्न अर्थ का वाचक होने पर 'परः' पद आद्युदात्त नहीं होता है।

यथा- परो दिवा पर एना पृथिव्याः।²⁶

इस उदाहरण में परः पद 'अन्त्य' अर्थ का वाचक है। अतः आद्युदात्त नहीं है।

घ) परिमाणवाचक अर्थ में मात्रा भी आद्युदात्त होता है- मात्रा च परिमाणे।²⁷ गोस्तु मात्रा न विद्यते।²⁸

उपर्युक्त उदाहरणों में मात्रा शब्द परिमाण अर्थ का वाचक है। अतः आद्युदात्त है। किन्तु, परिमाण से भिन्न अर्थ होने पर मात्रा पद आद्युदात्त नहीं होता है-

यथा- विभूर्मात्रा प्रभुः पित्रा।²⁹ यहाँ सम्बन्धीवाचक माता अर्थ वाले मातृ शब्द के तृतीयान्त का यह रूप है। जो परिमाण से भिन्न अर्थ है। अतः यहाँ मात्रा आद्युदात्त नहीं है।

ङ) शरीर के अङ्ग अर्थ में कर्ण आद्युदात्त होता है- कर्णः स्वाङ्गो।³⁰

यथा- भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः।³¹ श्रोत्राभ्यां कर्णौ तेदनीमधरकण्ठेन।³²

इन उपर्युक्त उदाहरणों में कर्ण पद शरीर के अङ्गवाचक के रूप में है, अतः आद्युदात्त है। किन्तु, शरीर के भाग विशेष से अन्य भिन्न अर्थ का वाचक होने पर कर्ण पद आद्युदात्त नहीं होता है-

यथा- श्वा'कृष्णः कर्णो गर्दभः।³³

यहाँ पर कर्ण पद पशु-जाति वाचक अर्थ में है, इसलिए कर्ण पद आद्युदात्त नहीं है।

च) शक्ति अर्थ में अन्धः शब्द आद्युदात्त ही होता है- अन्धो वीर्यो।³⁴

यथा- अन्धस्थान्धो'वो भक्षीया³⁵

यहाँ 'अन्धः' पद शक्ति अर्थ में होने कारण आद्युदात्त है, किन्तु, शक्ति अर्थ से भिन्न होने पर अन्धः पद आद्युदात्त नहीं होता है।

यथा- अन्धन्तम् प्रविशन्ति³⁶ अत्र अयं अन्धशब्दः निबिडवाची।
अतः अन्धः आद्युदात्त न स्यात्।

छ) वर्णवाचक अर्थ में एता पद आद्युदात्त होता है- एता वर्णो।³⁷

अनन्तभट्ट ने अपने वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के भाष्य में अमरकोश को इङ्गित करते हुए वर्णित करते हैं- एता चित्रवर्णा इत्यर्थः।³⁸

यथा - एता' ऐन्द्राग्ना द्विरूपा³⁹ इस उदाहरण में एता पद वर्णवाचक है, अतः एता पद आद्युदात्त है।

किन्तु, वर्णवाचक भिन्न अर्थ होने पर "एता" पद आद्युदात्त नहीं होता है।

यथा - एता मे' अग्न इष्टकाः।⁴⁰

इस उदाहरण में "एता" पद पूर्वपरामर्श वाची है। अतः आद्युदात्त नहीं है।

ज) समास में स्थित न होने पर वर्णवाची 'रोहित' पद आद्युदात्त होता है- रोहितश्च केवलः।⁴¹

यथा- रोहितो धूम्रोहितः।⁴² अत्र असमासस्थो वर्णवाची रोहितशब्दः आद्युदात्तः स्यात्।

किन्तु, वर्ण भिन्नवाची अर्थ होने पर 'रोहित' पद आद्युदात्त नहीं होता है।

यथा- रोहितकुण्डूणाची'गोलत्तिका।⁴³

इस उपर्युक्त उदाहरण में रोहित पद "कृष्णमृगविशेष" वाचक अर्थ है।⁴⁴ अतः आद्युदात्त नहीं है। इसके साथ ही रोहित पद समासयुक्त है, तो भी वह आद्युदात्त नहीं होता है।⁴⁵

यथा- धूम्रोहितः⁴⁶ (धूम्रश्चासौ रोहितश्च धूम्रोहितः)⁴⁷ इति समस्तोऽयम्⁴⁸ अतः आद्युदात्त न स्यात्।

झ) भूतकाल का अभिधायक 'सुकृत' पद आद्युदात्त होता है- सुकृतम्भूले⁴⁹

यथा - उरुः पूथुः सुकृतः कर्तृभिभूत्।⁵⁰

उपर्युक्त उदाहरण में "सुकृत" पद भूतकाल का अभिधायक होने के कारण आद्युदात्त है। लेकिन, भूतकाल अर्थ से अन्य अर्थ का वाचक होने पर 'सुकृत' पद आद्युदात्त नहीं होता है।

यथा- सूक्तं च' मे सुकृतं च' मे।⁵¹ इस उदाहरण में 'सुकृत' पद पुण्यवाची है।⁵² अतः आद्युदात्त नहीं है।

ञ) विचार अर्थ के रूप में प्रयोग होने वाले दो 'आसीत्' पदों में से प्रथम 'आसीत्' पद अन्तोदात्त होता है - पूर्वमन्तोदात्तम्⁵³

यथा = अ॒धः स्विदा॒सी॒ऽदुपरि॑ स्विदासी॒ऽत्।⁵⁴ उपर्युक्त उदाहरण में पहला 'आसीत्' पद अन्तोदात्त है।

ट) गति अर्थ के रूप में प्रयोग होने वाले 'यतः' पद अन्तोदात्त होता है- यतो गतौ।⁵⁵

यथा = देवान्त्स्वर्यतो धिया दिवम्।⁵⁶ अत्र गत्यर्थके यतशब्दः अन्तोदात्त स्यात्।⁵⁷

यहाँ यतः पद गत्यर्थक 'इण् धातु' का रूप है।⁵⁸ किन्तु, गत्यर्थक भिन्न अर्थ होने पर 'यतः' पद अन्तोदात्त नहीं होता है।

यथा = यतो'जातः प्रजापतिः।⁵⁹ यहाँ पर 'यतः' पद यत् सर्वनाम का रूप है।⁶⁰ इसलिए यह अन्तोदात्त नहीं है।

वाजसनेयि-प्रातिशाख्य के अनुसार अनुदात्त होने का विधान 'पद' के अर्थ पर निर्भर करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी पद का स्वर उसके अर्थ से सम्मान्धित है। वाजसनेयि-प्रातिशाख्य में अर्थमूलक अनुदात्त का विधान निम्नांकित है-

क) नः नौ तथा मे ये तीनों पद यदि मत् (अस्मद्) अर्थ के अभिधायक में हो तथा क्रमशः बहुवचन, द्विवचन और एकवचन में प्रयुक्त हो तो ये तीनों पद अनुदात्त ही होते हैं- नो नौ मे मदर्थे त्रिद्वयेकेषु।⁶¹ नः

यथा- स्वस्ति न॒ इन्द्रो'वृद्धश्रवाः।⁶²

इस उदाहरण में पद अनुदात्त है, जो मत् (अस्मद्) शब्द के बहुवचन में प्रयुक्त हुआ है। अतः सूत्रानुसार यह अर्थमूलक अनुदात्त है।

अन्य उदाहरण- दुर्मदासो न सुरायाम्।⁶³ न इन्द्रं देवममंसत।⁶⁴

उपर्युक्त उदाहरण में 'न' पद अनुदात्त रहित है, जिसका अर्थ क्रमशः यहाँ उपमार्थक निषेध 'न' निपात के रूप में प्रयोग हुआ है।⁶⁵ इसलिए वैदिक मन्त्रों के यथार्थ भाव को जानने के लिए स्वरों का ज्ञान आवश्यक है। अन्यथा अर्थ का अनर्थ भी हो सकता है। नौ

यथा= अस्थुरि णौ गार्हपत्यानि सन्तु।⁶⁶ मे यथा = इमा मे अग्न इष्टका धेनवः।⁶⁷

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि यदि 'नः, नौ, मे' यदि मदर्थ में प्रयुक्त है तो वह अनुदात्त होता है।

ख) अस्मत् के अर्थ में 'मा' पद की अनुदात्त स्वर होता है - मा चा।⁶⁸

यथा= चा मा सोमो अमृतत्वेन गम्यात्।⁶⁹

उपर्युक्त उदाहरणों में 'मा' पद अस्मत् अर्थ में है। अतः मा अनुदात्त है। किन्तु अस्मद् भिन्नर्थ होने पर या निषेध अर्थ में होने पर मा पद की अनुदात्त स्वर नहीं होता है।

यथा = मापो मौषधीर्हिंसीः।⁷⁰ मा कार्षी मा हार्षीरिति चा।⁷¹

इन उपर्युक्त उदाहरणों में 'मा' निषेधार्थक है, अतः यहाँ 'मा' अनुदात्त नहीं है।

ग) यदि 'एनः' पद पापवाचक न हो तो यह पद अनुदात्त होता है- एनोऽपापे।⁷²

यह 'एनः' पद प्रातिपदिकमात्र के रूप में बिना किसी विशेषता के सभी लिङ्गों में ग्रहण होता है।⁷³

पुल्लिङ्ग यथा भवति = उदेनमुत्तरान्न्यु।⁷⁴

स्त्रीलिङ्ग यथा भवति = मैनान्तपंसा मार्चिषाभिषोचीः।⁷⁵

नपुंसकलिङ्ग यथा भवति = मातेव पुत्रं बिभृताप्स्वेनत्।⁷⁶

इन उपर्युक्त उदाहरणों में एन पद पापवाचक रहित होने के कारण अनुदात्त है। किन्तु, एनः पद यदि पापवाचक होता है तो वह पद अनुदात्त नहीं होता है।

यथा- देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि।⁷⁷ यदेनश्चकृमा वयम्।⁷⁸

इन दो उदाहरणों में 'एनः' पद पापवाचक होने के कारण अनुदात्त नहीं है।

घ) विचार अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण द्वितीय आसीत् पद सर्वानुदात्त होता है। इसका अन्तिम अक्षर त्रिमात्रिक होता है - आसीत् इति चोत्तरं विचारे।⁷⁹

यथा = उपरि स्विदासीत्।⁸⁰ (यहाँ ईकार त्रिमात्रिक है।)

किन्तु विचार अर्थ से भिन्न प्रयुक्त होने पर आसीत् पद सर्वानुदात्त नहीं होता है-

यथा = का स्विदासीत्पूर्वचित्। किं।⁸¹

इस उदाहरण में आसीत् पद विचार अर्थ में प्रयुक्त नहीं है तथा यह मन्त्रों में पहला आसीत् पद है। अतः सर्वानुदात्त नहीं है- अत्र आसीत् पूर्वस्यानुदात्तत्वं मा भूदिति।⁸² क्योंकि मन्त्रों में पहला आसीत् पद सर्वानुदात्त न हो अन्तोदात्त होता है।⁸³

ङ) यदि कोई भी पद पूर्व में हो, अनेक पदार्थों का वाचक न हो तथा पाद के आदि में न हो तो ऐसा (सम्बोधन) आमन्त्रित पद अनुदात्त होता है- पदपूर्वगामन्त्रितमनानार्थोऽपादादौ।⁸⁴

यहाँ अनेक पदार्थों से तात्पर्य है द्विवचन एवं बहुवचन है।⁸⁵

पदपूर्वभवति यथा = त्वमने व्रतूपा असि।⁸⁶ वयं सोम व्रते तव।⁸⁷

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में 'अने तथा सोम' द्विवचन- बहुवचन रहित (अनानार्थक) पदपूर्वक आमन्त्रित होने के कारण अनुदात्त है।

इन उदाहरणों में विशिष्ट अर्थ में अथवा परिस्थिति में स्वर का विधान किया गया है। प्रातिशाख्य में प्रतिपादित इन विधानों का ज्ञान नहीं होने पर अर्थ तथा स्वर के वषय में संशय विद्यमान रहता है। तात्पर्य यह है कि यदि यह ज्ञान है कि आद्युदात्त कृष्ण पद मृग का वाचक होता है तो अर्थ निर्णय में सुविधा होती है। अन्यथा वर्ण आदि अर्थों की आशंका रहती है। इसी प्रकार अर्थ ज्ञान से स्वर भी स्पष्ट हो जाता है। आचार्य यास्क ने इसीलिये लिखा है कि अर्थ का ज्ञान नहीं रखने वाला निश्चित रूप से स्वर तथा संस्कार का निर्णय नहीं कर पाता है।⁸⁸ अतः स्वर के ज्ञान के अभाव में अर्थ का ज्ञान तथा अर्थ के ज्ञान के अभाव में स्वर का ज्ञान सम्भव नहीं है। स्वर तथा अर्थ में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। प्रातिशाख्य में प्रतिपादित स्वर सम्बन्धी विधान स्वर तथा अर्थ के निश्चय में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। वेदार्थ- मीमांसा में, प्रातिशाख्यों की महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्धारण, स्वर विषयक विधान ही करते हैं। वेदार्थ में स्वर के ज्ञान की अनिवार्यता का विवेचन ऋग्वेद भाष्यकार, वेंकटमाधवाचार्य ने अत्यन्त विस्तार से किया है। इन्होंने स्वरों को पथ-प्रदर्शक दीपक तो बताया ही है साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि शब्द का अर्थ समान होने पर उस शब्द का स्वर सर्वत्र समान होगा किन्तु जहाँ स्वर में भेद होगा, वहाँ अर्थ निश्चित बदल जायेगा।⁸⁹ स्वर के द्वारा ही पद के स्वरूप का ज्ञान होता है। आचार्य वेङ्कटमाधव के अनुसार नाम और आख्यात के विभाग का ज्ञान स्वर से ही होता है।⁹¹ समास के निर्धारण में स्वर की अत्यन्त भूमिका है। आचार्य पंतजलि ने इसे स्थूलपृषती उदाहरण द्वारा समझाया है। याज्ञिक कहते हैं कि स्थूल पृषती गौ का अग्नि तथा वरुण के उद्देश्य आलम्बन करें। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि स्थूलपृषती के अर्थ में सदेह होता है। यहाँ दो अर्थ उपस्थित होते हैं

स्थूल और बिन्दु से युक्त अथवा स्थूल बिन्दु वाली गाया प्रथम अर्थ कर्मधारय समास मान कर किया गया है। द्वितीय अर्थ बहुव्रीहि समास मानकर हुआ है। यहाँ अभीष्ट अर्थ का निर्धारण स्वर से होता है। यदि पूर्व-पद का प्रकृति स्वर है तो बहुव्रीहि समास होगा तथा यदि यहाँ समास का अन्त्यअच् उदात्त है तो तत्पुरुष होगा है।⁹² इस प्रकार संदेह के स्थलों पर अर्थ का निर्णय स्वर से ही होता है। वेदार्थ में स्वर नियामक का कार्य करते हैं। स्वर के विधानों के प्रतिपादक होने से प्रातिशाख्यों का महत्त्व है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विधानों से अन्ततः यहीं विदित होता है कि वैदिक मन्त्रों के यथार्थ ज्ञान हेतु वैदिक स्वरों का विदित होना अत्यन्त आवश्यक है। इस तथ्य पर सभी प्राचीन ऋषि-मुनि, यास्काचार्य, कात्यायन, याज्ञवल्क्य, सायण इत्यादि सभी ने एकसमान ही विचार प्रकट करते हैं। उपर्युक्त शोधपत्र से यहीं ज्ञात होता है कि कोई भी पाठक, वेदार्थ जिज्ञासु किसी भी वेद चाहे ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि के रहस्यमय और वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उस व्यक्ति विशेष को स्वरसम्बन्धित ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः वेद की किसी भी शाखाविशेष में प्राप्त होने वाले पदों तथा स्वरों के सम्यक् परिज्ञान के लिए तत्सम्बन्धित प्रातिशाख्य शास्त्र का ज्ञान अनिवार्य होता है। इस स्वर-ज्ञान के अभाव में न केवल वैदिक मंत्र का वास्तविक और मूल अभिप्राय ही अनभिज्ञ रहता है अपितु स्वर-शास्त्र की उपेक्षा से इष्ट प्राप्ति के स्थान पर अनिष्ट की प्राप्ति होने की पूर्ण सम्भावना भी बनी रहती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. वाजसनेयि-प्रातिशाख्य, डॉ० वीरेन्द्र कुमार वर्मा, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान नई दिल्ली, २०१९.
2. पाणिनीय शिक्षा, चौखम्बा सुभारती प्रकाशन वाराणसी
3. शुक्ल यजुर्वेद प्रातिशाख्य के भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन- डा० शेमुषी ; नवजीवन प्रकाशन, निवाई (राजस्थान)
4. वैदिक स्वर मीमांसा-मीमांसा, पण्डित युधिष्ठिर; रामलाल कपूर ट्रस्ट, २००९
5. वैदिक स्वरित मीमांसा- चौबे, डॉ० बज्रबिहारी, कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन; होशियारपुर १९७२
6. वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वरान्कन प्रकार मीमांसा, पण्डित युधिष्ठिर, रामलाल कपूर ट्रस्ट, २००९
7. प्रातिशयों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का आलोचनात्मक अध्ययन भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली: १९७३
8. वैदिक स्वर अवधारणा त्रिपाठी, डॉ० परामनाथ: सन्दीप प्रकाशन, कटेश्वर पार्क वस्ती. १९७८
9. वाजसनेयी प्रातिशाख्य और अष्टाध्यायी के म्बर लेखिका डा० निशा रानी (प्रकाशित शोध ग्रन्थ)
10. प्रातिशाख्य एवं वाजसनेयि -प्रातिशाख्यों का तुलनात्मक अध्ययन (पाणिनीय शिक्षा के सन्दर्भ में)

11. शोधकर्ता श्रीमती नेत्रा श्रीवास्तव, संस्थान-बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी वर्ष २०१४
12. योगेन दाक्षिण्येन दमेन बुद्ध्या बाहुश्रुतेन तपसा नियोगतः। बृहदेवता ८.१३०
13. स्थाणुरयं भारहरः किलाभूदधीत्य वेद न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्रुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा। निरुक्त १.६
14. यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते। अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्। निरुक्त १.६
15. उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैन हिन्वत्यपि वाजिनेषु। अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्। ऋग्वेद १०.१७५
16. स्वरवर्णान्प्रयुञ्जानो हस्तेना धीतमाचरन्। ऋग्यजुः सामभिः पूतो ब्रह्मलोकमवाप्नुयात्। या० शि० पृ० ३२
17. अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाप्मानमिति? अर्थावबोधनार्थी भविष्यति। जे० मी० सूत्र १।२।३१ पर शाबर भाष्य
18. पाणिनी शिक्षा श्लोक - ५२
19. वा० सं० १.१८
20. व्यन् सपत्ने। - पा० ४।१।१४५ सूत्र से व्यन् प्रत्यय तथा नित्वात् जिनत्यादिर्नित्यम् पा० ६।१।१९४ सूत्र से आद्युदात्त स्वर होता है।
21. मन्त्रस्तु यदि मनागपि स्वरतो वर्णतो वा हीनी भवति अथ कर्मासमृद्धिः। न केवल कर्मासमृद्धिः, किन्तर्हि? दुरिष्टहेतुः प्रत्यवायः स्यात्। वा० प्रा० ४।१ पर उवट भाष्या
22. अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्वलति क्वचित्। एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्था स्फुटा इति। - स्वरानुक्रमणी १।८
23. उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते, खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति। - पा० १.१.१. पर महा०
24. वा० प्रा०- २.२६
25. वा० प्रा०- २.२६ (उवट-भाष्य)
26. शु० य० वा० सं०-१७.२
27. शु० य० वा० सं०-२३.६२
28. शु० य० वा० सं०-२३.६२
29. शु० य० वा० सं०-७.४
30. वा० प्रा०- २.२५
31. शु० य० वा० सं०- २.१
32. शु० य० वा० सं०- २४.३६
33. शु० य० वा० सं०-२४.४०
34. वा० प्रा०- २.२७
35. वा० प्रा०- (उवटभाष्य) २.२७
36. शु० य० वा० सं०- ८.३६
37. शु० य० वा० सं०- २३.६२
38. शु० य० वा० सं०- १७.२९
39. वा० प्रा०- २.२८
40. शु० य० वा० सं०- २३.४७
41. शु० य० वा० सं०- २३.४८
42. शु० य० वा० सं०-२२.१९
43. वा० प्रा०- २.३१

44. शु० य० वा० सं०-२५.२७
45. शु० य० वा० सं०-२५.२
46. शु० य० वा० सं०-२४.४०
47. वा० प्रा०- २.३४
48. शु० य० वा० सं०-३.२०
49. शु० य० वा० सं०-३०.१०
50. वा० प्रा०- (अनन्तभट्ट) २.३५
51. शु० य० वा० सं०-२४.८
52. शु० य० वा० सं०-१७.२
53. वा० प्रा०- २.३६
54. शु० य० वा० सं०-२४.२
55. शु० य० वा० सं०-२४.३७
56. अयं रोहितशब्द कृष्णमृगविशेषवाची । वा० प्रा०- (अनन्तभट्ट) २.३६
57. वा० प्रा०- (अनन्तभट्ट) २.३६
58. शु० य० वा० सं०-२४.२
59. वा० प्रा०- (अनन्तभट्ट) २.३६
60. वा० प्रा०- (अनन्तभट्ट) २.३६
61. वा० प्रा०- २.४५
62. शु० य० वा० सं०-७.३९
63. शु० य० वा० सं०-१८.५
64. वा० प्रा०- (अनन्तभट्ट) २.४५
65. वा० प्रा०- २.५४
66. शु० य० वा० सं०-३३.७४
67. वा० प्रा०- २.५८
68. शु० य० वा० सं०-११.३
69. वा० प्रा०- (अनन्तभट्ट) २.५८
70. वा० प्रा०- (उब्बट) २.५८
71. शु० य० वा० सं० २३.६३
72. वा० प्रा०- (अनन्तभट्ट) २.५८
73. वा० प्रा० २.३
74. शु० य० वा० सं० २५.१९
75. ऋ० ८.२.१२
76. ऋ० १०.८६.१
77. नि० १.२
78. शु० य० वा० सं० २.२७
79. शु० य० वा० सं० १७.२
80. वा० प्रा० २.४
81. शु० य० वा० सं० ९.१९
82. शु० य० वा० सं० ६.२२
83. नि० १.२
84. वा० प्रा० २.१३
85. अविशिष्टं चैतत्प्रातिपदिकमात्रं सर्वलिङ्ग गृह्यते वा० प्रा० (उब्बट) २.१३
86. शु० य० वा० सं० १७.५०
87. शु० य० वा० सं० १२.५०
88. शु० य० वा० सं० १२.३५
89. शु० य० वा० सं० ८.१३
90. शु० य० वा० सं० ३.४५
91. वा० प्रा० २.५३
92. शु० य० वा० सं० ३३.७४
93. शु० य० वा० सं० २३.११
94. वा० प्रा० (अनन्तभट्ट) २.५३
95. वा० प्रा० २.५४
96. वा० प्रा० २.१७
97. यदि तत् द्विवचन बहुवचने नारभ्यत इत्यर्थः। वा० प्रा० (उब्बट) २.१७
98. शु० य० वा० सं० ४.१६
99. शु० य० वा० सं० ३.५६
100. निरुक्त १.५
101. अर्थ अभेदे तुशब्दस्य सर्वत्र सदृशः स्वर । यदा नतं स्वरं पश्येदन्यार्थं तदा नयेत्। स्वरानुक्रमणी।
102. नामाख्यातविभागश्च स्वरादेवावगम्यते । ऋग्वेदानुक्रमणी
103. याज्ञिका पठन्ति-स्थूलपृषतीमाग्निं वारुणीमनड्वाहीमालभेतति। तस्या सदेहः स्थूला चासो पृषती च स्थूलपृषती स्थूलानि पूषन्ति यस्या सैय स्थूलपृषतीति। ता नावैयाकरणा स्वरतोऽध्यवस्यति। यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व ततो बहुव्रीहि अथः समासान्तोदात्तत्व तत्पुरुष इति। महाभाष्य, प्रथम आह्निक